2020

CLASS NOTES

संवैधानिक विधि - I

इकाई 1 - संविधान की प्रमुख विशेषतायें

By: AVADH LAW COLLEGE, BARABANKI
LL.B. - 3 yrs. I Sem. & B.A. LL.B. - 5 yrs. III Sem.

अवध लॉ कॉलेज, बाराबंकी

LL.B. - 3 yrs. I Sem. & B.A. LL.B. - 5 yrs. III Sem.

CLASS NOTES

संवैधानिक विधि - I

इकाई 1 - संविधान की प्रमुख विशेषतायें

Course Content:

(i) वर्ष 1858 से 1947 तक संवैधानिक विकास

(ii) भारतीय संविधान का निर्माण

(iii) भारतीय संविधान की प्रकृति एवं प्रमुख विशेषताएं

(iv) विधि का शासन एवं शक्तियों का पृथक्करण

इकाई - 1

संविधान की प्रमुख विशेषतायें

प्रसिद्ध विधि शास्त्री वेड और फिलिप्स के द्वारा संविधान की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है-

> ***"संविधान से तात्पर्य ऐसे दस्तावेज से है जिसकी एक विशिष्ट विधिक पवित्रता होती है। जो राज्य सरकार के अंगों यथा विधायिका कार्यपालिका न्यायपालिका के ढांचे को और उनके प्रमुख कार्यों को निर्दिष्ट करता है। और इन अंगों के संचालन के लिए मार्गदर्शक सिद्धांतों का निर्धारण करता है।"***

संविधान की परिभाषा चाहे जिन शब्दों में की जाए इसका मूल उद्देश्य एक ही रहता है जो है राज्य के प्रमुख अंगो की संरचना, उनके पारस्परिक संबंधों, और प्रमुख कार्यों को सैद्धांतिक तथा विनिर्दिष्ट रूप से निर्धारित करना।

भारत में अंग्रेजों का आगमन और ब्रिटिश पद्धति पर शासन व्यवस्था का आरंभ:

भारत के इतिहास में सन् 1600 ईसवीं अति महत्वपूर्ण वर्ष रहा क्योंकि ब्रिटिश आगमन का प्रभाव भारत पर सर्वथा भिन्न पड़ने वाला था। भारत में ब्रिटिश काल को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है जो विभिन्न महत्वपूर्ण घटनाओं के आधार पर प्रसिद्ध इतिहासकारों ने निर्धारित किए हैं -

1. वर्ष 1600 से 1765 ईस्वीं तक
2. वर्ष 1765 से 1858 ईसवीं तक
3. वर्ष 1858 से 1919 ईस्वीं तक
4. वर्ष 1919 से 1947 ईस्वीं तक।

❖ 1858 से 1947 तक का संवैधानिक विकास:

वर्ष 1853 के राजलेख में सर्वप्रथम भारत में एक विधानमंडल की स्थापना किए जाने का कार्य किया गया। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी पर अंकुश लगाने का ब्रिटिश संसद का प्रयास अभी जारी ही हुआ था कि तभी इस प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए 1857 का विद्रोह भारत के कई हिस्सों में उठ खड़ा हुआ। इस विद्रोह का दमन करने के बाद ब्रिटिश संसद को भारत का शासन अपने हाथ में लेने का एक सशक्त आधार प्राप्त हो गया और फलस्वरुप ब्रिटिश संसद ने वर्ष 1858 में भारत सरकार अधिनियम पारित किया।

❖ भारत सरकार अधिनियम, 1858:

जिस दोहरी सरकार की स्थापना पिट्स इंडिया एक्ट के द्वारा की गई थी उसके उद्देश्य पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो पाए थे तथा बोर्ड ऑफ कंट्रोल का नियंत्रण कंपनी पर पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हो पाया था। इस समस्या से ब्रिटिश संसद भी अवगत थी। परिणामस्वरूप वर्ष 1858 के अधिनियम के द्वारा कंपनी का अस्तित्व समाप्त कर दिया गया और भारत का शासन कंपनी के हाथों से लेकर ब्रिटिश सम्राट को हस्तांतरित कर दिया गया। अब भारत का शासन इंग्लैंड की साम्राज्ञी के नाम से किया जाने लगा। इस अधिनियम ने भारत में स्वतंत्रता की नई परिभाषाएं लिखना शुरू किया। जिसने भारत के शासन की व्यवस्था इंग्लैंड की साम्राज्ञी के हाथों में दिए जाने को एक राजकीय घोषणा-पत्र के द्वारा लागू किया। इस घोषणा का भारतीय संवैधानिक विकास के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसके द्वारा भारत का एक नया इतिहास आरंभ हुआ। भारत के राज्य-सचिव का पद सृजित किया गया जिसे भारत सरकार के कार्यकलापों पर नियंत्रण करना था। इंग्लैंड में स्थित होने की वजह से इस परिषद का उद्देश्य पूरा न हो सका। एवं भारत के शासन का पूर्ण प्राधिकार राज्य-सचिव के हाथ में आ गया परंतु यह नियंत्रण भी नाम मात्र का था। भारत में जिस विधानसभा की स्थापना हुई थी उसमें भारतीयों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। इसी कारण से लोगों की दशाओं का सही आकलन सरकार तक नहीं पहुंच

पाता था और विधि बनाते समय प्रांतीय समस्याएं ध्यान नहीं रखी जा पाती थीं। इन त्रुटियों को दूर करने के लिए वर्ष 1863 में भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 पारित किया गया।

❖ 1861 का भारतीय परिषद अधिनियम:

भारत में स्थापित सरकार का स्वरूप मूलतः ब्रिटिश संसद को ही प्रतिनिधित्व प्रदान करता था और इसमें भारतीयों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 के माध्यम से भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं का आरंभ हुआ। इसके द्वारा सर्वप्रथम भारतीय स्वायत्तता का आरंभ हुआ तथा विधि बनाने में भारतीयों का सहयोग लिया जाने लगा। इसके साथ ही इस अधिनियम में मद्रास तथा बम्बई प्रांतों की विधानसभाओं को भी विधि बनाने की शक्ति प्रदान कर दी गई। इस अधिनियम के द्वारा भारत में केंद्रीय विधान मंडल की सदस्य संख्या को भी बढ़ाया गया। जोकि कम से कम 6 और अधिकतम 12 होती थी। इन सदस्यों को "एडिशनल मेंबर" कहा जाता था। इनमें से आधे सदस्य गैर सरकारी होते थे जिनका कार्यकाल 2 वर्ष का होता था। गवर्नर जनरल को विधानमंडल की बनाई गई विधि पर अंतिम निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त था। इसके बाद भी ब्रिटिश संसद किसी भी विधि को निरस्त करने की शक्ति धारण करती थी।

❖ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन (वर्ष 1885):

वर्ष 1885 को भारत के इतिहास में प्रतिनिधित्व के प्रारंभ का वर्ष माना जाता है क्योंकि भारत में पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय जनमानस का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था का गठन हुआ था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने पहले अधिवेशन में उस समय की सरकार तथा उसके ढांचे की निंदा की तथा असंतोष व्यक्त किया। इसके साथ ही सरकारी ढांचे में भारतीयों के प्रतिनिधित्व को बढ़ाने की मांग भी की। यह प्रयास जो वर्ष 1885 से आरम्भ हुआ उसका प्रभाव वर्ष 1892 आने तक साफ दिखने लगा था।

❖ भारतीय परिषद अधिनियम, 1892:

वर्ष 1892 में भारतीय परिषद अधिनियम के पारित होने के उपरांत केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों की सदस्य संख्या को बढ़ा दिया गया। जिसके माध्यम से केंद्रीय विधान परिषद में कम से कम 10 और अधिकतम 16 सदस्य हो सकते थे। इस परिषद के सभी सदस्यों को नामांकित करने का गवर्नर जनरल को अधिकार प्राप्त था। इस अधिनियम में पहली बार भारतीयों को बजट पर बहस करने की और सरकार से प्रश्न पूछने की स्वतंत्रता प्राप्त हुई। भारतीयों द्वारा पूछे गए किसी भी प्रश्न को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने की शक्ति परिषद के सदस्य को प्राप्त थी। मद्रास और बम्बई की विधान परिषदों में भी सदस्यों की संख्या में बढ़ोतरी की गई जो कम से कम आठ और अधिकतम 20 सदस्यों तक हो सकती थी। इसी प्रकार बंगाल में अधिकतम 20 सदस्यों की संख्या निर्धारित की गई। हालांकि इस अधिनियम के द्वारा सदस्यों की संख्या में बढ़ोतरी की गई थी फिर भी प्रतिनिधित्व का प्रभावी होना अभी संभव नहीं था।

❖ भारतीय परिषद अधिनियम 1909:

भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 (जिसे "मार्ले - मिंटो सुधार" के नाम से भी जाना जाता है) के द्वारा भारतीयों को प्रशासन तथा विधि निर्माण दोनों में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। केंद्रीय विधान सभा में सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 60 कर दी गई। जिनमें से आधे गैर सरकारी सदस्य होते थे। सर्वप्रथम इस अधिनियम के द्वारा निर्वाचन मंडल को तीन श्रेणियों में बांटा गया जो इस प्रकार थी -

a. सामान्य निर्वाचक वर्ग
b. वर्गीय निर्वाचक वर्ग
c. विशिष्ट निर्वाचक वर्ग

इन निर्वाचक वर्गों को विभिन्न स्तर पर तथा विभिन्न समुदायों के हिसाब से वर्गीकृत किया गया था। इसके साथ ही प्रांतीय विधान परिषदों को भी प्राप्त विधाई शक्तियां बढ़ा दी गई। प्रांतीय परिषद

2. प्रांतीय स्तर पर सुधार:

प्रांतीय स्तर पर इस अधिनियम के द्वारा सर्वप्रथम द्वैध शासन की स्थापना की गई। इस अधिनियम के द्वारा प्रांतों में आंशिक रूप से उत्तरदाई सरकार की स्थापना हुई। विधि बनाने के क्षेत्र में विषयों को दो स्तर पर रखा गया।

- केंद्रीय स्तर के विषयों पर केंद्र सरकार को विधि बनाने की शक्ति प्राप्त थी। इसी प्रकार प्रांतीय विषयों पर प्रांतीय सरकारों को विधि बनाने की शक्ति प्राप्त थी।
- प्रांतीय विषयों को पुनः दो हिस्सों में बांटा गया था - एक रक्षित विषय जो सरकार के लिए अधिक महत्वपूर्ण विषय थे जैसे जेल, पुलिस, न्याय, वित्त, सिंचाई इत्यादि और दूसरा हस्तांतरित विषय जिनमें लोकहित संबंधी विषय आते था जिनका प्रभाव सरकार पर कम पढ़ता था जैसे - शिक्षा, कृषि, स्थानीय स्वायत्त शासन, इत्यादि। रक्षित विषयों पर भारतीय सदस्यों का हस्तक्षेप लगभग नगण्य था क्योंकि गवर्नर इन विषयों पर भारतीय सदस्यों की सलाह के बिना ही विधि बना सकता था।

❖ भारत सरकार अधिनियम 1935:

मोंटफोर्ट योजना के तहत पारित भारत सरकार अधिनियम, 1919 की उपलब्धियां सीमित रहीं तथा इसमें कई दोष भी पाए गए जैसे - उत्तरदाई सरकार की केंद्र में स्थापना की मांग का पूरा ना होना, द्वैध शासन प्रणाली के उद्देश्यों का विफल होना इत्यादि। इन दोषों को दूर करने के लिए वर्ष 1927 में साईमन आयोग का गठन किया गया। साईमन आयोग में भारतीयों को कोई जगह नहीं दी गई। इसीलिए भारतीय राजनीतिक दलों ने इसका बहिष्कार किया क्योंकि इस आयोग की रिपोर्ट के अनुसार उत्तरदाई केंद्रीय सरकार की स्थापना का विरोध किया गया था। इन प्रयासों के विफल होने के बाद ब्रिटिश सरकार ने इस रिपोर्ट के आधार पर एक श्वेत पत्र जारी किया एवं इन सुझावों के अनुसरण में ब्रिटिश संसद में एक विधेयक लाया गया जो भारत सरकार अधिनियम, 1935 के नाम से पारित

हुआ। इस अधिनियम के द्वारा भारत में स्थापित सरकारी ढांचे को एवं शासन व्यवस्था को एक नई पहचान मिली जिसके अंतर्गत शामिल किए गए निम्नलिखित विषय विशेष महत्व के थे।

a) भारत में संघात्मक सरकार की स्थापना
b) केंद्रीय विधान मंडल में सुधार
c) प्रांतीय विधानमंडल में नए प्रावधान
d) केंद्र में द्वैध शासन व्यवस्था की स्थापना।
e) प्रांतीय शासन व्यवस्था में सुधार
f) भारत में पहले फेडरल न्यायालय की स्थापना
g) केंद्र तथा प्रांतों के स्तर पर शक्तियों का विभाजन
h) प्रांतों में स्वायत्त शासन प्रणाली की स्थापना

❖ क्रिप्स मिशन 1942:

क्रिप्स मिशन की स्थापना ब्रिटिश सरकार द्वारा इस उद्देश्य से की गई थी की उस समय चल रहे द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटिश सरकार की सहायता करने हेतु भारतीयों को मनाया जा सके। परिणाम स्वरूप ब्रिटेन के प्रधानमंत्री श्री चर्चिल ने एक दूत मंडल का गठन किया। जिसकी अध्यक्षता सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को दी गई जो "क्रिप्स मिशन" के नाम से प्रचलित हुआ। इसका उद्देश्य भारतीय नेताओं के साथ विचार-विमर्श करके भारत के भविष्य में बनने वाली सरकार का निर्धारण करने हेतु कार्य योजना बनाना था एवं भारतीयों को द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटेन का योगदान करने के लिए राजी करना था। इस मिशन ने निम्नलिखित सुझावों की घोषणा की-

1. युद्ध समाप्त होने के उपरांत एक निर्वाचित संविधान सभा का गठन किया जाएगा। जो भारत के लिए नए संविधान की रचना करेगी।
2. संविधान सभा में भारतीय प्रांतों के प्रतिनिधित्व को भी शामिल किया जाएगा।

3. ब्रिटिश सरकार इस प्रकार बनाए गए नए संविधान को निम्न शर्तों के अधीन स्वीकार करेगी।
   - एक, संविधान को स्वीकार करके संघ में शामिल होने का निर्णय प्रांत स्वयं ले सकेंगे जिसके लिए ब्रिटिश सरकार की तरफ से कोई दबाव नहीं डाला जाएगा।
   - दूसरा, ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय शासकों को शासन हस्तांतरण करने के लिए एक संधि पत्र पर हस्ताक्षर करना होगा जिसके अनुसार शासन परिवर्तन से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का निराकरण किया जा सके।
4. क्रिप्स मिशन ने संविधान निर्माता सभा का आकार निश्चित कर दिया था। साथ ही प्रांतीय विधानसभाओं के चयनित सदस्यों को ही संविधान निर्मात्री सभा का सदस्य का चुनाव कर सकने के लिए प्राधिकृत किया गया था।
5. युद्ध के समय भारत की सुरक्षा का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार पर रहेगा परंतु नैतिक तथा भौतिक रूप से सैनिकों पर नियंत्रण भारत सरकार का ही था।

क्रिप्स मिशन की इन सभी शर्तों को भारतीय राजनीतिक दलों ने एकमत से अस्वीकार कर दिया क्योंकि विभिन्न दलों को अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार इन सुझावों में समस्याएं दिख रही थी। क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव को खारिज करने के साथ ही भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों ने द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटिश सरकार की सहायता करने से इंकार कर दिया।

इसी काल में भारत में क्रांतिकारी गतिविधियों की ओर भी लोगों का रुझान बढ़ने लगा। भारत में सुभाष चंद्र बोस के नेतृत्व में INA का गठन हुआ जिसने ब्रिटिश सरकार पर गहरा दबाव डाला। इन गतिविधियों से ब्रिटिश सरकार को यह स्पष्ट हो गया था कि अब भारत में लंबे काल तक शासन कर पाना संभव नहीं होगा। वर्ष 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के उपरांत ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों के बढ़ते आक्रोश को देखते हुए एक नया दूत-मंडल स्थापित किया जिसे "कैबिनेट मिशन" नाम दिया गया।

❖ कैबिनेट मिशन, 1946:

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अनेक स्तरों पर आंदोलन हिंसात्मक होने लगा था। विद्रोह के इस उग्र रूप को नियंत्रित कर पाना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए संभव नहीं था। इन परिस्थितियों से निपटने के लिए तथा भारत के भविष्य के बारे में सभी राजनीतिक दलों से विचार विमर्श करने हेतु कैबिनेट मिशन का गठन किया गया जिसमें 3 सदस्य थे -

a. लार्ड पैथिक लोरेंस,
b. सर स्टेफोर्ड क्रिप्स
c. ए. बी. एलेग्ज़ेंडर

कैबिनेट मिशन ने सभी राजनीतिक दलों से विचार विमर्श करने के उपरांत निम्नलिखित शर्तें रखीं।

1. भारत एक संघ होगा जिसमें ब्रिटिश भारत तथा भारतीय प्रांतों का सह अस्तित्व होगा।
2. विधि बनाने के क्षेत्र में राष्ट्रीय हित के विषयों को छोड़कर अधिकतम विषय प्रांतों को दिए जाएंगे।
3. ब्रिटिश सरकार की प्रभुसत्ता को भारतवर्ष से समाप्त कर दिया जाएगा।
4. प्रांतों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपनी इच्छा से भारत संघ में सम्मिलित हो अथवा स्वतंत्र रहें।
5. ब्रिटिश सरकार की प्रवक्ता समाप्त होने के साथ ही भारत में एक अंतरिम सरकार की स्थापना की जाएगी। जिसमें भारत के सभी प्रमुख राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।
6. अंतरिम सरकार के द्वारा एक संविधान सभा का निर्वाचन किया जाएगा जो भारत के लिए नए संविधान की रचना करेगी।

कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों को भारतीयों ने स्वीकार कर लिया और जुलाई, 1946 में भारत में पहली बार अंतरिम सरकार की स्थापना हुई तथा एक संविधान सभा का निर्माण किया गया और भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947 पारित किया गया।

❖ भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947:

कैबिनेट मिशन, 1946 के प्रस्तावों को भारतीयों के द्वारा स्वीकार करने के उपरांत ब्रिटिश सरकार ने भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 पारित किया। जो कि 15 अगस्त, 1947 से प्रभावी हुआ तथा पाकिस्तान और भारत दो स्वतंत्र राष्ट्रों का जन्म हुआ। इस अधिनियम के द्वारा भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई परंतु भारत और पाकिस्तान अब भी आधिराज्य के रूप में स्थापित थे। इन दोनों ही अधिराज्यों में गवर्नर जनरल का शासन था जो इंग्लैंड द्वारा नियुक्त किया गया था। इस अधिनियम के द्वारा दोनों को अपना- अपना संविधान बनाने का अधिकार दिया गया। साथ ही यह स्पष्ट कर दिया गया की 14 अगस्त, 1947 के बाद ब्रिटिश सरकार का इन दोनों अधिराज्यों पर कोई नियंत्रण नहीं रहेगा। जब तक भारत और पाकिस्तान अपने संविधान नहीं बना लेते तब तक यहाँ का शासन भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अनुसार चलता रहेगा। भारतीय प्रांतों को यह स्वतंत्रता प्राप्त थी कि वह अपनी इच्छानुसार या तो भारत में शामिल हों या पाकिस्तान में या फिर स्वतंत्र ही रहें।

❖ भारत में नए संविधान का निर्माण (वर्ष 1947 से 1950):

वर्ष 1946 के कैबिनेट योजना के प्रस्तावों के अनुसार संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव किया गया। इन सदस्यों ने संविधान सभा का निर्माण नवंबर, 1946 में प्रारंभ किया। संविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसंबर, 1946 को आयोजित हुई। इसी दिन से भारत जैसे विभिन्नताओं वाले देश के लिए एक नए संविधान का निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ। इसके लिए एक प्रारूपण समिति का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष डॉ भीमराव अंबेडकर नियुक्त किए गए। प्रारूपण समिति ने सभी संविधानों का गहन अध्ययन किया और इन संविधानों में उत्पन्न होने वाली सभी कठिनाइयों का विश्लेषण किया इसके बाद 2 वर्ष, 11 महीने, 18 दिन के अथक प्रयास के उपरांत 26 नवंबर, 1949 को संविधान निर्माण का कार्य पूरा हुआ। संविधान सभा में आरंभ में कुल 296 सदस्य चुने गए थे, जिनमें से 211 सदस्य कांग्रेस के थे, 73 मुस्लिम लीग के, तथा शेष रिक्त स्थान रहे। 3 जून, 1947 को भारत के

विभाजन का निर्णय लिया गया और इसके उपरांत भारत ने 26 जनवरी, 1950 को एक संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न, लोकतंत्रात्मक, गणराज्य का दर्जा प्राप्त किया।

❖ भारतीय संविधान की प्रकृति एवं प्रमुख विशेषताएं:

भारतीय संविधान विश्व में अपनी तरह का एक अनोखा संविधान है। विश्व की दूसरी सर्वाधिक जनसंख्या वाले देश ने लोकतंत्र की आधारशिला पर देश का भविष्य निर्मित करने का दृढ़ संकल्प लिया एवं संविधान निर्मात्री सभा ने यह कार्य करने हेतु विश्व के सभी प्रमुख संविधानों का गहन अध्ययन किया। इसके उपरांत संविधान निर्माताओं ने भारत के लिए उपयुक्त तथा समीचीन संवैधानिक सिद्धांतों का समेकन किया जिसके परिणामस्वरूप 26 जनवरी, 1950 को लागू होने वाले भारतीय संविधान का अस्तित्व स्थापित हुआ। विश्व के सभी प्रमुख संविधानों का अध्ययन करने से भारत को एक लाभ प्राप्त हुआ कि विभिन्न संविधानों की कार्य पद्धति से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का पहले ही निवारण करना संभव हो सका तथा विभिन्न संविधानों में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रभावी सिद्धांतों को भारत के संविधान में सम्मिलित किया जा सका। इन प्रयासों के परिणाम स्वरूप भारत का संविधान विश्व का विशालतम संविधान बन गया है। भारत का संविधान लिखित संविधान है जिसके कारण भारत में राज्य का कोई भी अंग सर्वोच्च शक्ति वाला नहीं है। और सभी को संविधान के अनुसार कार्य करना होता है।

❖ भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएं:

भारत का संविधान अपने आप में अनूठा है क्योंकि यहाँ राज्य के प्रत्येक अंग के कार्यकलाप, उनके दायित्व, तथा अधिकार, शक्तियाँ, इत्यादि का वर्णन होने के साथ ही नागरिकों और अन्य देशों के व्यक्तियों के अधिकार एवं दायित्व भी बताए गए हैं। भारत का संविधान विश्व का विशालतम संविधान है। इस संविधान के द्वारा भारत को एक प्रभुत्वसंपन्न, लोकतंत्रात्मक, पंथनिरपेक्ष,

समाजवादी, गणराज्य के रूप में स्थापित किया गया है भारतीय संविधान में इन प्रमुख सिद्धांतों को भारत की विलक्षण परिस्थितियों के अनुसार भारतीय शासन व्यवस्था में सम्मिलित किया गया है। इन सिद्धांतों तथा पदों को निम्नलिखित रूप से वर्णित किया जा सकता है -

1. **विशालतम संविधान:**

भारतीय संविधान विश्व के विशालतम संविधान में से एक है। मूल संविधान में 395 अनुच्छेद थे जो 22 भागों में विभक्त थे। इनके साथ ही भारतीय संविधान में 8 अनुसूचियां भी शामिल की गई थीं। संविधान में वर्तमान समय में करीब 101 संशोधन हो चुके हैं परंतु अब भी अंतिम अनुच्छेद की संख्या 395 है। वर्तमान समय में संविधान में 12 अनुसूचियां हैं और 450 से अधिक अनुच्छेद है।

2. **प्रभुत्व संपन्न राज्य:**

प्रभुत्वसंपन्न ऐसे राज्य को कहा जाता है जिस पर किसी बाह्य शक्ति का नियंत्रण न हो और ऐसा राज्य अपने राज्यक्षेत्र के लिए विधि बनाने हेतु पूर्णतया स्वतंत्र हो। इसके साथ ही ऐसा राज्य अपनी आंतरिक और विदेशी नीतियों को स्वयं निर्धारित करता है। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अपने संविधान का निर्माण हुआ जो भारत की संप्रभुता दर्शाने का सबसे सशक्त साक्ष्य है। भारत ने जब स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रमंडल का सदस्य होना स्वीकार किया तो इसकी संप्रभुता के परिप्रेक्ष्य में आलोचना की गई परंतु यह तथ्य मान्य नहीं है, क्योंकि भारत ने अपनी इच्छा से राष्ट्रमंडल तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण की है न कि किसी के दबाव में आकर। इसकी सदस्यता त्यागने का अधिकार भी भारत में सदैव बना है।

3. **लोकतंत्रात्मक राज्य:**

शासन व्यवस्था में लोकतंत्र सर्वोच्च श्रेणी की शासन पद्धति है। लोकतंत्र का शाब्दिक अर्थ लोगों की सरकार होता है। ऐसी शासन व्यवस्था में राज्य के नागरिक अपने मताधिकार का प्रयोग करते हुए स्वयं पर शासन करने हेतु एक सरकार का निर्वाचन करते हैं। ऐसी व्यवस्था में

सरकार का समूचा प्राधिकार जनता में निहित होता है। जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा देश की सरकार तथा नीतियों का निर्माण होता है। इस व्यवस्था में निर्वाचित प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदाई होते हैं। इस सिद्धांत को अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने निम्नलिखित शब्दों में वर्णित किया था -

"लोकतंत्र जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता की सरकार होती है।"

संविधान निर्माताओं ने भारत के प्रत्येक नागरिक को राजनीतिक न्याय का प्रथम चरण अर्थात लोकतंत्रात्मक सरकार निर्वाचित करने का अधिकार प्रदान किया।

4. पंथनिरपेक्ष राज्य:

किसी राज्यक्षेत्र में अलग-अलग समुदाय के तथा विभिन्न धर्मों को मानने वाले नागरिक निवास कर सकते हैं। कई राज्य ऐसे होते हैं जो अपने यहाँ पाए जाने वाले मुख्य धर्म के अनुसार अपना धर्म निर्धारित करते हैं। ऐसे राज्यों को धार्मिक राज्य कहा जाता है। इसके विपरीत एक पंथनिरपेक्ष राज्य ऐसा राज्य होता है जिसने अपना कोई विशिष्ट धर्म या पंथ ना अपनाया हो। यह पद कई बार धर्मनिरपेक्ष के पर्यायवाची के रूप में भी प्रयुक्त होता है। पंथनिरपेक्ष शब्द भारतीय संविधान की उद्देशिका में 42वें संविधान संशोधन, 1976 के द्वारा जोड़ा गया। परंतु पंथनिरपेक्षता के गुण भारतीय संविधान में आरंभ से ही विद्यमान थे। जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक अध्ययन करने पर स्पष्ट दिखाई देते हैं। पंथनिरपेक्ष अथवा धर्मनिरपेक्ष राज्य से तात्पर्य ऐसे राष्ट्र से है जो किसी विशेष धर्म को अपने धर्म के रूप में मान्यता प्रदान नहीं करता बल्कि ऐसा राज्य सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करता है। भारत इस प्रकार के पंथनिरपेक्ष राज्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

5. समाजवादी राज्य:

समाजवाद की परिकल्पना ऐसी व्यवस्था को दर्शाती है जहाँ उत्पादन के प्रमुख संसाधन या तो राज्य के हाथों में होते हैं या उसके नियंत्रण में होते हैं। अपने शाब्दिक अर्थ में समाजवाद

को लागू करना नकारात्मक परिणाम दे सकता है। और इन्हीं कठिनाइयों से भारत को बचाने के लिए भारतीय संविधान निर्माताओं ने समाजवादी राज्य की स्थापना करने के बजाय लोकतंत्रात्मक समाजवाद की स्थापना की। भारतीय संविधान के विभिन्न उपबंधों में लोकतंत्रात्मक समाजवाद आरंभ से ही विद्यमान था परंतु भारतीय संविधान की उद्देशिका में 42वें संविधान संशोधन, 1976 के द्वारा समाजवाद पद जोड़ा गया। जिसमें राज्य का यह लक्षण विनिर्दिष्ट रूप से व्यक्त कर दिया गया। आर्थिक न्याय की परिकल्पना में संविधान ने सरकार को यह महत्वपूर्ण सुंदरता दी है कि वह जैसी चाहे वैसी आर्थिक व्यवस्था लागू कर सकती है। अतः भारत में प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने के लिए पूर्ण अवसर मिल सकता है एवं बाज़ार को भी विकसित होने का अवसर प्राप्त होता है इसलिए भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था लागू की गई है।

6. गणतंत्रात्मक राज्य:

किसी राज्य में उसका प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति को वहाँ का राष्ट्राध्यक्ष कहा जाता है। राष्ट्राध्यक्ष के अलग अलग स्वरूप विभिन्न राज्यों में पाए जाते हैं जैसे राजा, राष्ट्रपति, चांसलर इत्यादि। कुछ राज्यों में राष्ट्राध्यक्ष निर्वाचित होते हैं जिन्हें गणतंत्रात्मक राज्य कहा जाता है। संविधान भारत में एक राष्ट्रपति होने का प्रावधान करता है जो कि 5 वर्षों के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुना जाता है। इसी कारण से भारत एक गणतंत्रात्मक राज्य है।

7. संसदीय प्रणाली की सरकार:

किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए संसदीय एवं अध्यक्षात्मक सरकार दो सबसे बेहतर विकल्प होते हैं। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व इंग्लैंड की प्रचलित संसदीय प्रणाली चली आ रही थी और भारत इस प्रणाली से भली प्रकार परिचित था। इसके साथ ही भारत सरकार अधिनियम, 1935 से इसी प्रणाली को भारत के लिए लागू किया गया था। इन्हीं कारणों से स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भी भारत में संघात्मक राज्य के साथ-साथ संसदीय प्रणाली लागू

की गई। संसदीय प्रणाली में मंत्रिमण्डल के सदस्य विधानमण्डल के भी सदस्य होते हैं। मंत्रिमण्डल का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका विधायिका का अभिन्न अंग होती है।

8. भारतीय संविधान में मूल अधिकार:

संविधान का मुख्य प्रमुख उद्देश्य वहाँ की जनता का कल्याण करना होता है जो कि नागरिकों को कुछ मूल अधिकार प्रदान करके सुनिश्चित किया जाता है। लोकतंत्रात्मक राज्य में मूल अधिकारों का वर्णन होना वहाँ के संविधान का एक आवश्यक लक्षण होता है। ताकि राज्य जनता के लिए दमनकारी प्रकृति ना अपना सके तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपना अंतर्मुखी और बहिर्मुखी विकास करने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो। भारतीय संविधान में भाग-3 के अनुच्छेद 12 से 35 तक मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है इन मूल अधिकारों में मुख्य रूप से

a. समता का अधिकार,
b. प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार,
c. शोषण के विरुद्ध अधिकार,
d. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार,
e. अल्पसंख्यकों के अधिकार, एवं
f. संवैधानिक उपचार प्राप्त करने का अधिकार,

जैसे अधिकारों को सम्मिलित किया गया है। इन अधिकारों की पूर्ण रूप से सुरक्षा हो सके इसके लिए इनके उल्लंघन का उपचार भी मूल अधिकार के रूप में अनुच्छेद-32 में प्रावधान किया गया है। मूल अधिकारों को संविधान में सर्वोच्च वरीयता दी गई है।

9. भारतीय संविधान में राज्य के नीति निदेशक तत्व:

संविधान के भाग - 4 में अनुच्छेद 36 से 51 तक राज्य के नीति के निदेशक तत्व बताए गए हैं। यह प्रावधान आयरलैंड के संविधान से प्रेरित होकर सम्मिलित किए गए हैं। यह प्रावधान

न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं होते हैं फिर भी राज्य को अपनी नीतियां निर्धारित करने में यह पथ प्रदर्शक का कार्य करते हैं। भाग - 4 में दिए गए प्रावधान कल्याणकारी राज्य की संकल्पना को पूर्ण करने के उद्देश्य से बनाए गए हैं। परंतु यह प्रावधान आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रकृति के हैं जिनका जनता को उपलब्ध होना राज्य के संसाधनों पर निर्भर करता है। इसीलिए इन्हें न्यायालय के द्वारा प्रवर्तनीय नहीं बनाया गया है बल्कि यह राज्य की अपनी इच्छा पर है कि वह कल्याणकारी कार्यों में किस प्रकार अपने संसाधनों को आवंटित करता है।

10. भारतीय संविधान में नम्यता और अनम्यता का मिश्रण:

राज्य के लिए निर्मित संविधान सामाजिक अपेक्षाओं के अनुसार निरंतर बदलते रहना चाहिए तभी यह अपना अस्तित्व कायम रख पाता है। संविधान में यह गतिशीलता संशोधनों के माध्यम से बनी रहती है। परंतु कुछ संविधान अनम्य प्रकृति के होते हैं जहाँ संशोधन करना अत्यधिक दुष्कर होता है। वहीं दूसरी ओर कुछ संविधान ऐसे होते हैं जहाँ संशोधन की प्रक्रिया साधारण विधि पारित करने जैसी होती है। ऐसे संविधान को नम्य संविधान कहा जाता है। भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया को बड़े रोचक ढंग से प्रावधानित किया गया है, जिसमें नम्यता और अनम्यता का अनोखा सम्मिश्रण देखने को मिलता है। अर्थात भारतीय संविधान के कुछ प्रावधान साधारण विधि के रूप में ही संशोधित किए जा सकते हैं जबकि दूसरी ओर संविधान के कुछ ऐसे प्रावधान जो आधारभूत ढांचे से जुड़े हुए हैं उनका संशोधन अत्यंत कठिन प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है। इसका प्रावधान अनुच्छेद 368 में दिया गया है।

11. केंद्रोन्मुख संविधान:

भारत का संविधान एक संघात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसमें केंद्र और राज्य अपनी-अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। यद्यपि भारत का संविधान संघात्मक है फिर भी यहाँ केंद्रीकरण की ओर अधिक रुझान देखने को मिलता है। इस प्रकार के प्रावधान इस हेतु रखे गए हैं ताकि देश से राज्यों को जोड़ कर रखना केंद्र के लिए अति महत्वपूर्ण था। इसी कारण से

संविधान निर्माताओं ने कई प्रावधान जैसे वित्त एवं राजस्व का बंटवारा, विधायन के क्षेत्र में केंद्र को अधिक शक्ति प्रदान करना, आदि ऐसे प्रमुख प्रावधान रखे जो केंद्र को राज्यों के ऊपर नियंत्रण रखने में सहायक होते हैं। इनमें से आपात उपबंध विशेष महत्व का है। जिसके अंतर्गत हमारे संविधान संघात्मक की जगह पूर्ण रूप से एकात्मक हो जाता है।

12. एकल नागरिकता:

संघात्मक संविधान में सामान्य रूप से दोहरी नागरिकता देखने को मिलती है। अर्थात ऐसे देशों में प्रत्येक नागरिक केंद्र के अंतर्गत एक नागरिकता धारण करता है और दूसरी नागरिकता उसे वहाँ के राज्य के द्वारा दी जाती है। भारत में इससे विपरीत परिस्थितियां देखने को मिलती हैं। यहाँ राष्ट्रीयता की भावना को सशक्त करने के लिए सभी को एक ही नागरिकता प्रदान की गई है। अर्थात भारत में प्रत्येक नागरिक मात्र भारतीय होता है और राज्य से संबंधित उसकी कोई नागरिकता नहीं होती। दोहरी नागरिकता हमें अमेरिका के संविधान में देखने को मिलती है जहाँ दोनों प्रकार की नागरिकताओं के अंतर्गत व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न अधिकार एवं कर्तव्य बताए जाते हैं। भारत में अनेकता में एकता यहाँ के समाज की विशेष पहचान रही है। अतः सभी नागरिकों को एकल नागरिकता के अंतर्गत समान रूप से अधिकार एवं कर्तव्य प्रदान किए गए हैं।

13. स्वतंत्र न्यायपालिका:

भारतीय संविधान न्यायपालिका को शेष दोनों अंगों से पूर्ण रुप से स्वतंत्र रखने के प्रयास में निर्मित किया गया था। क्योंकि देश का प्रत्येक नागरिक, देश के समस्त राज्य तथा केंद्रीय सरकार के बीच उठने वाले विवादों का निस्तारण करने के लिए एक स्वतंत्र न्यायपालिका का होना अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। इन्हीं कारणों से भारत में न्यायपालिका की एकल प्रणाली की स्थापना की गई। जिसमें जिले के स्तर पर अधीनस्थ न्यायालय, राज्यों के स्तर पर उच्च न्यायालय और केंद्र के स्तर पर उच्चतम् न्यायालय की स्थापना की गई है। जिनमें से

अधीनस्थ न्यायालय, उच्च न्यायालय के अधीन कार्य करते हैं तथा उच्च न्यायालयों की अपील उच्चतम् न्यायालय में प्रस्तुत की जाती है। भारत में न्यायपालिका को स्वतंत्र रखने के लिए संविधान में कई प्रावधान किए गए हैं। इनके माध्यम से कार्यपालिका का हस्तक्षेप नगण्य तथा विधायिका का हस्तक्षेप निम्नतम रखा गया है। न्यायपालिका से संबंधित प्रावधानों को संशोधित करते समय भारतीय संविधान अनम्य प्रकृति धारण कर लेता है और यदि कोई संशोधन नियत प्रक्रिया के अनुसार विधायिका द्वारा पारित कर भी दिया जाता है फिर भी न्यायिक पुनर्विलोकन के माध्यम से न्यायपालिका अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रख सकती है।

ALC

❖ भारतीय संविधान में विधि शासन:

विधि शासन का प्रमुख सिद्धान्त कानून के समक्ष सब लोगों की समता है अर्थात कानून सर्वोपरि है और वह देश के सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू होता है। इसे कानून का शासन भी कहा जाता है। भारतीय संविधान में यह शासन अंग्रेजी-अमेरिकी विधान से लिया गया है।

विधि का शासन का अर्थ है कि देश का कोई भी नागरिक विधि से ऊपर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसकी परिस्थिति कुछ भी हो, देश की सामान्य विधियों के अधीन और साधारण न्यायालयों की अधिकारिता के भीतर ही है।

भारतीय कानून के अनुसार जन्म, जाति, रंग, पैसा आदि कारणों से देश के किसी भी नागरिक को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होगा। यदि किसी राज्य में किसी वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त है और अन्य लोग इस अधिकार से वंचित हैं तो वहां विधि का शासन नहीं कहा जा सकता।

विधि के शासन के अंतर्गत पुरुषों और स्त्रियों के अधिकार में भी अंतर नहीं किया गया है। राजनीतिक एवं अंतर्राष्ट्रीय पारस्परिक मर्यादा की दृष्टि से इस नियम के थोड़े से अपवाद भी हैं।

- राष्ट्रपति एवं राज्यपाल देश के साधारण न्यायालय द्वारा दंडित नहीं हो सकते।
- विदेश के राजा, राष्ट्रपति या राजदूत न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर हैं।

❖ विधि के शासन से तात्पर्य है?

एवी डॉयसी ने 1885 में अपनी पुस्तक Law and the Constitution में कानून के शासन की व्याख्या की थी, उसमें उन्होने शासन के तीन अर्थ बताए हैं-

1. विधि के शासन का अभिप्राय देश में कानूनी समानता का होना है।
2. विधि के शासन के अनुसार किसी व्यक्ति को कानून के उल्लंघन के लिए दंडित किया जा सकता है अन्य किसी बात के लिए नहीं।

3. विधि के शासन की तीसरी शर्त यह है कि संविधान कि व्याख्या अथवा अन्य किसी भी कानूनी विषय पर न्यायाधीशों का निर्णय अंतिम व सर्वमान्य होगा।

संवैधानिक इतिहासकार आइवर जेनिंग्स ने विधि के शासन को अनियंत्रित घोड़ा (unruly horse) के रूप में चिह्नित किया है। उनका मानना था कि विधि के शासन को सटीक रूप से परिभाषित करना मुश्किल है लेकिन संक्षेप में यह कुछ सिद्धांतों और मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता को दर्शाता है। थॉमस फुल्लर के अनुसार कानून के शासन का एक और मूल सिद्धांत है कि आप कितने ऊंचे क्यों न हों कानून आपके ऊपर है (be you ever so high the law is above you) इसलिए कोई भी, चाहे वह प्रधानमंत्री, स्पीकर, इमाम, आर्कबिशप, शंकराचार्य, या न्यायाधीश हो वह कानून से बंधे हुए हैं।

❖ **भारत में विधि का शासन:**

❖ विधि शासन का प्रमुख सिद्धान्त कानून के समक्ष सभी लोगों की समता है अर्थात कानून सर्वोपरि है और वह देश के सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू होता है। इसे कानून का शासन भी कहा जाता है। भारतीय संविधान में यह शासन अंग्रेजी-अमेरिकी विधान से लिया गया है। विधि के शासन के अंतर्गत राज्य का प्रत्येक अधिकारी अपने आप को विधि के अधीन समझेगा और कानून का पालन करेगा। इसमें राज्य के तीनों अंग कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका कानून के अनुसार कार्यवाही किए जाने के लिए बाध्य है। विधि के शासन के अंतर्गत व्यक्ति संबंधी सभी स्वतंत्रताएं इसमें शामिल मानी गई हैं और इसे संविधान का महत्वपूर्ण अंग माना गया है। विधि के शासन के अंतर्गत राज्य कर्मचारियों के द्वारा संवैधानिक सीमाओं के अंदर अपनी कार्यपालक शक्तिफ़यों का प्रयोग किया जाएगा। यदि उनके द्वारा अपनी शक्तिफ़यों का प्रयोग नहीं किया जाता है या सीमा से अधिक किया जाता है तो जनता उनके आचरण को चुनौती दे सकती है और न्यायालय उनके आचरण में सुधार करेगें। विधि के शासन के अंतर्गत सरकारी अधिकारियों को मनमाना विवेकाधिकार प्राप्त नहीं होंता है, किसी भी व्यक्ति के पास विवेकाधिकार की असीमित शक्तिफ़यां नहीं होती हैं। सभी व्यक्तियों को विवेकाधिकार का प्रयोग

विधि के अनुसार दी गई शक्तिफ़यों के अंतर्गत करना होता है। विधि के शासन के अंतर्गत सभी विधि के उल्लंघन करने वाले को दण्डित किया जाता है। सभी व्यक्तियों पर देश का संपूर्ण कानून बराबरी से लागू होता है, कोई भी व्यक्ति विधि के उपर नहीं माना जाता है, किसी भी सरकारी अधिकारी-कर्मचारी, नेता को विशेष छूट नहीं होती है। भारत में केशवानन्द भारती केस 1973 में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा, फ्विधि का शासन संविधान की मूलभूत संरचना है। बाद में जबलपुर एडीएम बनाम एस के शुक्ला में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि संविधान ही विधि का शासन है। वर्ष 1981 के एस-पी- गुप्ता बनाम भारत संघ मामले में उच्चतम न्यायालय की संविधान पीठ ने कहा था कि न्यायाधीशों को आर्थिक या राजनीतिक शक्तिफ़ के सामने सख्त होना चाहिये और उन्हें विधि के शासन के मूल सिद्धांत को बनाए रखना चाहिये। भारत में कानून के शासन नागरिकों और गैर-नागरिकों पर समान रूप से लागू होता है।

❖ **विधि के शासन की सीमाएं:**

आज बदलते विश्व परिवेश व राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप कानून के शासन का अर्थ भी बदल गया है। आज कानून के शासन को चुनौती देने वाली व्यवस्थाएं जन्म ले चुकी हैं। विधायिका के पास कार्यभार की अधिकता के कारण आज कुछ मामलों में कानून को विस्तृत व व्यापक रूप कार्यपालिका ही देती है। यही व्यवस्था प्रदत्त व्यवस्थापन कहलाती है। इस प्रकार कानून संसद के हाथों से निकलकर कार्यपालिका के पास आ चुका है। आज अनेक देशों में राजनीतिक प्रतिविधियों व कर्मचारियों को विशेषाधिकार व उन्मुक्तिफ़यां प्राप्त हैं। अपने गलत कार्यों के लिए विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों पर मुकद्दमा विशेष परिस्थितियों में ही चलाया जा सकता है। आज अनेक देशों में सैनिक व्यवस्था को पूर्णतया स्वतन्त्र दर्जा दिया गया है। सेना के अपने न्यायालय व बोर्ड होते हैं जो सैनिकों द्वारा किए गए अपराधों की जांच करते हैं व सजा देते हैं। सैनिक न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध किसी तरह की अपील साधारण न्यायालयों में या कहीं भी नहीं की जा सकती हैं। भारत में सैनिक

न्यायालयों को अलग व स्वतन्त्र दर्जा प्राप्त है। भारत, अमेरिका आदि देशों में नागरिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं का जन्म संविधानिक प्रावधानों की देन है, न कि न्यायिक निर्णयों की।

❖ **शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त:**

शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त राज्य के सुशासन का एक प्रादर्श (माडल) है। शक्तियों के पृथक्करण के लिये राज्य को भिन्न उत्तरदायित्व वाली कई शाखाओं में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक 'शाखा' को अलग-अलग और स्वतंत्र शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। प्रायः यह विभाजन - कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के रूप में किया जाता है।

शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत फ्रेंच दार्शनिक मान्टेस्कयू ने दिया था। उसके अनुसार राज्य की शक्ति उसके तीन भागों कार्यपालिका, विधानपालिका, तथा न्यायपालिका मे बांट देनी चाहिये। यह सिद्धांत राज्य को सर्वाधिकारवादी होने से बचा सकता है तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करता है। अमेरिका का संविधान पहला ऐसा संविधान था जिसमें यह सिद्धान्त अपनाया गया था।

शक्ति का पृथक्करण करना एक मौलिक कार्य है जो सभी राज्यों में किया जाता है। आधारभूत रूप में राज्य के तीन कार्य होते हैं - विधायन, नियमन और नियन्त्रण। इन कार्यों को क्रमशः विधायिका, सरकार और न्यायालय करती हैं। शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर ये तीनों इकाइयाँ स्वतः ही पृथक हो जाती है। न तो ये किसी दूसरे के अधीन होते हैं न तो कोई दूसरे के हस्तक्षेप को स्वीकार करता है। खासकर इनके समन्वय के लिए शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त अपनाया जाता है। शक्ति पृथक्करण में शक्ति सन्तुलन का वास्तविक अभ्यास संसदीय शासन प्रणाली में होता है। विधायिका सरकार का गठन करती है तो सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर उसे हटा भी सकती है। उसी तरह सरकार विधायिका का विघटन कर नये जनादेश के लिए जनता से अपील कर सकती है। विधायिका न्यायमूर्ति के खिलाफ महाभियोग पारित कर सकती है तो न्यायालय विधायिका के निर्णयों को अवैध घोषित कर सकती है। अमेरिकी गणतंत्र ने राष्ट्रपति को असीमित अधिकार दिया है मगर उस पर महाभियोग पारित करने का विशेषाधिकार संसद् (कांग्रेस) को दिया है।

शक्ति विकेन्द्रीकरण भी एक आधारभूत सिद्धान्त है। इसका अधिक प्रयोग एकात्मक शासन प्रणाली में किया जाता है। संघात्मक शासन प्रणाली में शक्ति स्वतः विभाजित होती है और एकात्मक शासन में

शक्ति केन्द्र में निहित होती है। इस लिए राज्य (केन्द्र) अपने स्थानीय क्रियाकलाप के संचालन हेतु केन्द्रीय और स्थानीय इकाइयों को शक्ति विकेन्द्रीत करता है। यद्यपि संघीय शासन का भी प्रादेशिक सरकार अपने स्थानीय इकाइयों को शक्ति का विकेन्द्रीकरण करती है। शक्ति का विभाजन और विकेन्द्रीकरण में मूलभूत अन्तर यह है कि विभाजित शक्ति वापस नहीं होती है लेकिन विकेन्द्रीत शक्ति केन्द्र द्वारा ऐच्छिक समय में वापस लिया जा सकता है।

भारतीय संविधान के सन्दर्भ में शक्ति पृथक्करण:

भारतीय संविधान मे इसका साफ वर्णन न होकर संकेत मात्र है। इस हेतु संविधान मे तीनो अंगों का पृथक वर्णन है। संसदीय लोकतंत्र होने के कारण भारत मे कार्यपालिका तथा विधायिका मे पूरा अलगाव नहीं हो सका है। कार्यपालिका (मंत्रीपरिषद) विधायिका मे से ही चुनी जाती है तथा उसके निचले सदन के प्रति ही उत्तरदायी होती है। अनुच्छेद 50 के अनुसार कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को पृथक होना चाहिए। इसीलिये 1973 मे दंड प्रक्रिया संहिता पारित की गयी जिस के द्वारा जिला मजिस्ट्रेटों की न्यायिक शक्ति लेकर न्यायिक मजिस्ट्रेटों को दे दी गयी थी।

- अनुच्छेद 50 में उल्लिखित है कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने हेतु राज्य, न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए कदम उठाएगा।
- अनुच्छेद 122 और 212 के अनुसार, क्रमशः संसद और राज्य विधान सभाओं की कार्यवाहियों की विधिमान्यता को किसी भी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सदस्यों की न्यायिक हस्तक्षेप से उन्मुक्ति सुनिश्चित की गई है।
- अनुच्छेद 121 तथा 211 के अनुसार, उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के न्यायिक आचरण पर क्रमशः संसद तथा राज्य विधानमंडल में चर्चा नहीं की जा सकती।
- अनुच्छेद 361 के अनुसार, राष्ट्रपति या राज्यपाल अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन के लिए किसी भी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं।